



# शिक्षा में स्वराज

नई शिक्षा नीति को स्वदेशी विचारों और अपनी संस्कृति पर आधारित बनाने की जरूरत जता रहे हैं गिरीश्वर मिश्र

भारत में अंग्रेजी राज ने यह संभव कर दिखाया कि वैचारिक साम्राज्य की स्थापना राजनीतिक साम्राज्य की स्थापना से कहीं ज्यादा प्रभावी होती है, क्योंकि वह समाज के जीवन और संस्कृति में गहरी घुसपैठ कर जाती है। वह अचेतन रूप से आदमी की सोच-विचार की प्रक्रिया और वैचारिक जीवन को बदल देती है और इस तरह से कि किसी को अंदाज भी नहीं लगता। कोई बाहरी देश यदि आक्रमण करे तो उसका प्रतिकार लड़कर किया जाता है और सजगता रहे तो उसे रोका जा सकता है। हमने 1965 के युद्ध को अभी-अभी याद किया है, जो इसका प्रमाण भी है, पर जब हम मन में और अपने विचार में कठिनाई को महसूस करना बंद कर देते हैं तो असली गुलामी शुरू होती है। तब जो वास्तव में अकल्याणकारी और अमंगल का द्योतक होता है वह हमें श्रेयस्कर और प्रिय लगने लगता है। हम ललचाई नजरों से उसे देखने लगते हैं। यह दासता का शायद निकृष्टतम रूप होता है। सांस्कृतिक अधीनता सिर्फ किसी पराई संस्कृति को अपनाने तक ही सीमित नहीं रहती। वह अपनी संस्कृति का उन्मूलन भी करने लगती है, जैसा कि दार्शनिक कैसी भट्टाचार्य ने स्वतंत्रता मिलने के दो दशक पहले विचारों में स्वराज की बात करते हुए आगाह किया था कि जब बिना किसी समीक्षा या मूल्यांकन के बाहरी प्रभाव को विवेकशून्य होकर अपना लेते हैं तो दूसरी संस्कृति हम पर अपना आधिपत्य जमाते हुए हमें अपने वश में कर लेती है। इस तरह की स्थिति समाज में गहरे पराभव और दासता की द्योतक होती है। भट्टाचार्य ने यह भी कहा था कि जब इस बात का अनुभव होता है और उस अनुभव को हम अपनी प्रेरणा बनाते हैं तो विचारों में स्वराज आता है। तब एक नया आत्मबोध उपजता है।

प्रश्न है कि क्या इस तरह की स्थिति भारतीय समाज के जीवन में कभी आ सकती? महात्मा गांधी, संत विनोबा, डॉ. लोहिया और पंडित दीनदयाल उपाध्याय सरीखे कुछ विचारकों ने इस पर जरूर सोचा और स्वराज और स्वदेशी की जमकर वकालत की। उसके कुछ प्रयोग भी

शुरू किए, पर मानसिक पराभव इतना जबर्दस्त था कि इन प्रयासों को व्यापक राजनीतिक संस्पर्श नहीं मिल सका और वे अभी भी प्रतीक्षारत हैं। आज जब भारत की शिक्षा नीति पर विचार चल रहा है तो वैचारिक स्वराज का प्रश्न खड़ा होता है, क्योंकि बिना वैचारिक स्वराज के ज्ञान के क्षेत्र में कोई गति नहीं दिखती। हमें शिक्षा के आयोजन में इस प्रश्न पर गंभीरता से सोचना होगा।

हमने आंख मूंदकर विदेशी संस्कृति और विचार को कल्याणकारी मानते हुए शिक्षा के आधार के रूप में स्वीकार किया और अपनी संस्कृति को कोई मौका ही नहीं दिया। उसे सिरे से अवैज्ञानिक, दकियानूसी और विकासविरोधी घोषित कर खारिज कर दिया। देशज संस्कृति की समृद्धि, उसका परिचय और मूल्यांकन तक हमने नहीं किया और मानक के रूप में पश्चिमी ज्ञान और संस्कृति को स्वीकार किया और उसे परोसा। यदा-कदा उसी विदेशी खांचे से अपनी संस्कृति को देखने की कोशिश भी की गई। अक्सर यह दिखाना ही ध्येय बना कि यहां भारत में भी वैसा ही था या वैसा ही मिलता-जुलता था, पर मानक वही पश्चिमी संसार और उसका विचार ही रहता है। अब हम अपनी संस्कृति और ज्ञान परंपरा से इतने कटते जा रहे हैं कि भारत के देशज ज्ञान की तरफ कौतूहल और आश्चर्यमिश्रित प्रतिक्रिया करते हैं। उसे अपनी चीज के रूप में नहीं देख पाते हैं। वह पराई ही बनी रहती है। उसे पश्चिमी ज्ञान के खांचे में

फिट किया जाता है, क्योंकि वही ठीक करार दिया गया है। समाज विज्ञान में बहुत सी बातें अजूबे भारत की पहचानी गई हैं, पर वह ज्ञान और विमर्श का हिस्सा नहीं बन सकी हैं। सच तो यही है कि विचार, विचार करने की पद्धति और उसकी प्रामाणिकता की व्यवस्था का पूरा विन्यास या ज्ञान-प्रायोगिकी हमने पश्चिम से आयातित की और उसी का वर्चस्व भी बना। दुर्भाग्यवश उसे वैश्विक और सार्वजनीन के रूप में पेश और प्रचारित किया जाता रहा है। इस तरह का रूढ़िवादी ज्ञान किसी विवेक को विकसित करने में बहुत सहायक नहीं हो सकता है। हां, हममें से कुछ लोग ज्ञान के विकास का निराधार दंभ जरूर पाल रहे हैं।

इस ढांचे में चलने वाली शिक्षा और उसके माध्यम से एक आधुनिक मानस के निर्माण की आकांक्षा हममें बलवती रही और उसके कुछ लाभ भी हमें मिले, पर इसका सामंजस्य भारतीय मानस के साथ नहीं बैठाया गया। अब स्थिति कुछ ऐसी बनती सी प्रतीत होती है मानों भारतीय मानस विस्मृत हो चला है और चेतन जगत में ख़ास अहमियत नहीं रखता है। शायद अनपढ़ों और कमपढ़ों के यहां कुछ ज्यादा और पढ़े लोगों के यहां गाहे-बगाहे रीति रिवाजों आदि में याद आ जाता हो अन्यथा पढ़े लिखों के लिए तो वह अनावश्यक भार तुल्य ही है। भारतीय संस्कृति के लिए उनमें कोई बहुत उत्सुकता और आकर्षण शेष नहीं दिखता है। परिस्थिति कुछ-कुछ इस तरह की लगती है कि

हम पश्चिम को अभी तक पूरी तरह एक पश्चिमी मन की तरह अपना नहीं सके हैं, पर अपनाने की कोशिश रहे हैं और उसके आशय तक पहुंचने की चेष्टा भी कर रहे हैं। हमने अपनी शैक्षिक संस्थाओं को भी उसी के अनुरूप ढाला है, शोध आदि की कवायद भी कर रहे हैं, पर वैचारिक दृष्टि से उसका क्या लाभ मिल पा रहा है, यह चिंता का विषय हो रहा है। कुछ एक अपवादों को छोड़ दें तो सर्जनात्मक दृष्टि से हम न तो विश्वचिंतन को और न ही भारतीय चिंतन को कुछ ख़ास योगदान दे सके हैं। हम अपना ठीक से मूल्यांकन ही नहीं कर पाते कि कितने पानी में हैं। हमारा पुस्तकीय ज्ञान भी अपने समाज और यथार्थ से कोई सार्थक रिश्ता नहीं जोड़ पाया है। हमने अपनी स्थिति का ठीक से आंतरिक जायजा भी नहीं लिया है।

यह जरूर है कि पश्चिमी चिंतन के नए से नए आंदोलन को समझने का यत्न तुरंत करते हैं और उसकी नकल भी करते हैं। प्रायः पश्चिमी सोच से अनुप्राणित हमारी शिक्षा का संदर्भ बिंदु और प्रमाण का आधार पश्चिम ही है, पर गांधीजी के हिंद स्वराज को छोड़ दें तो पश्चिमी संस्कृति को भारत की दृष्टि से हमने कभी नहीं जांचा परखा। हमने पश्चिमी और भारतीय विचारों का कोई संश्लेषण भी नहीं किया। आयातित आधुनिक शिक्षा की ज्ञान संस्थाओं की स्थापना के सहारे देश के मानस को हमने परे धकेल उसकी जगह एक ऐसा आयातित मन बिठवा जो न हमारे अतीत से जुड़ पाता है, न वर्तमान से और न भविष्य से। सोच-विचार में सर्जना को तिलांजलि देकर हम मात्र अनुकृति दर अनुकृति को ही बढ़ावा देते रहे हैं। नई शिक्षा नीति में यह ध्यान रखना होगा कि यहां की धरती पर उपजे विचारों और सांस्कृतिक संवेदना के विकास के साथ ही हम प्रभावी और सर्जनात्मक ढंग से सोचने वाले मानस को विकसित कर सकेंगे।

(लेखक महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के कुलपति हैं)  
response@jagran.com